IJSSRA l ISSN (online): 3107-6238
April-June 2026 l Vol. 02 l Issue 1

वैश्विक ग्रामीण विकास, कृषि और पर्यावरणीय स्थिरता का समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. सन्तराम पाल*

*असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, आचार्य नरेन्द्र देव किसान पी.जी. कॉलेज, बभनान, गोंडा (उ.प्र.)

ईमेल: spal1190@gmail.com

DOI: doi.org/10.5281/zenodo.21076409

सारांश:

समकालीन वैश्विक परिदृश्य में सतत ग्रामीण विकास, कृषि और पर्यावरणीय स्थिरता के बीच का अंतर्संबंध मूल रूप से मानवीय व्यवहार, सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने और ऐतिहासिक रूप से निर्मित सामाजिक संरचनाओं से जुड़ा हुआ है। प्रस्तुत शोधपत्र यह विश्लेषण करता है कि कैसे ग्रामीण समाज, पारंपरिक ज्ञान प्रणालियाँ और आंतरिक सामाजिक स्तरीकरण, जैसे- जाति, वर्ग, लिंग और नस्ल आदि, पर्यावरण और कृषि पद्धतियों को प्रभावित करते हैं? और उनसे स्वयम प्रभावित होते हैं? संरचनात्मक प्रकार्यवाद, सामाजिक संघर्ष सिद्धांत और पारिस्थितिक नारीवाद के सैद्धांतिक दृष्टिकोण से यह पत्र वैश्विक और स्थानीय स्तर पर उभरते ग्रामीण संकटों की जाँच करता है। लैटिन अमेरिका, उप-सहारा अफ्रीका और दक्षिण एशिया के केस स्टडीज के आधार पर यह शोध स्पष्ट करता है कि शीर्ष-स्तरीय तकनीकी हस्तक्षेप तबतक विफल रहेंगे जबतक उनमें सामाजिक न्याय, स्थानीय समुदायों के पारंपरिक अधिकारों और सामाजिक पूंजी को समेकित नहीं किया जाता है। अंततः, यह शोध नीति-निर्माण में 'नीचे से ऊपर' के सहभागी मॉडल और कृषि-पारिस्थितिकी को अपनाने पर बल देता है।

मुख्य शब्द :*सतत ग्रामीण विकास, नारीवाद, सामाजिक पूंजी, कृषि-पारिस्थितिकी, वैश्विक परिप्रेक्ष्य।*

प्रस्तावना-

वैश्विक स्तर पर ग्रामीण क्षेत्र न केवल खाद्य सुरक्षा के प्राथमिक स्रोत रहे हैं बल्कि वे हमारे नाजुक पारिस्थितिक तंत्र के प्राकृतिक रक्षक भी रहे हैं। औद्योगिक क्रांति के बाद से और विशेष रूप से बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में, विकास के एक ऐसे मॉडल को अपनाया गया जिसने उत्पादन को तो बढ़ाया लेकिन प्रकृति और मानव समाज के बीच के संतुलन को पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दिया। इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करते ही जलवायु परिवर्तन, अनियंत्रित मौसम चक्र, भूमि का मरुस्थलीकरण और प्राकृतिक संसाधनों का अति-दोहन वैश्विक ग्रामीण समाजों के अस्तित्व के लिए सबसे बड़े खतरे बनकर उभरे हैं। इस दृष्टि से, यह बहुविषयक अनुसंधान महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक है। वर्तमान में अधिकांश विकासवादी नीतियां और

अकादमिक विमर्श मुख्य रूप से कृषि विज्ञान के इर्द-गिर्द घूमते हैं। नीति-निर्माता अक्सर यह मान लेते हैं कि हाइब्रिड बीजों का वितरण, आधुनिक रासायनिक उर्वरकों का उपयोग, बड़े पैमाने पर मशीनीकरण और बाजार आधारित अनुदान देकर ग्रामीण संकटों का पूरी तरह समाधान किया जा सकता है। समाजशास्त्रीय उपागम इस यांत्रिक दृष्टिकोण की सीमाओं को उजागर करता है। समाजशास्त्र का मत है कि कृषि और पर्यावरण कोई निर्जीव भौतिक तत्व या केवल आर्थिक कमोडिटी नहीं हैं; वे मानवीय क्रियाओं, सामाजिक संस्थाओं, शक्ति संबंधों और सांस्कृतिक विश्वासों के जीवित परिणाम हैं। जब तक हम यह नहीं समझेंगे कि समाज की आंतरिक संरचनाएं किस तरह संसाधनों के दोहन और वितरण को तय करती हैं तब तक कोई भी तकनीकी समाधान टिकाऊ नहीं हो सकता है। विकास और पर्यावरण का संकट वास्तव में एक सामाजिक संकट है। इसलिए, प्रस्तुत शोधपत्र वैश्विक सतत ग्रामीण विकास, कृषि और पर्यावरणीय स्थिरता के विभिन्न आयामों की जाँच करने का एक अकादमिक प्रयास है।

सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य-

ग्रामीण समाजशास्त्र और पर्यावरणीय समाजशास्त्र के सिद्धांतों का समन्वय करके हम कृषि और पर्यावरण के संकटों का गहरा और बहुआयामी विश्लेषण कर सकते हैं। इसके लिए मुख्य रूप से तीन सिद्धांतों का अनुप्रयोग किया गया है:[1]

1.संरचनात्मक प्रकार्यवाद और साझा संसाधन प्रबंधन

एमिल दुर्खीम और टैलकॉट पार्सन्स द्वारा प्रतिपादित संरचनात्मक प्रकार्यवादी दृष्टिकोण समाज को एक परस्पर निर्भर और जटिल प्रणाली के रूप में देखता है। इस सिद्धांत के अनुसार, मानव समाज, उसकी आर्थिक गतिविधियाँ और प्राकृतिक पर्यावरण एक-दूसरे से आंतरिक रूप से जुड़े अंग हैं। जब इस व्यवस्था के अंग सुचारू रूप से कार्य करता है तो पूरी व्यवस्था में संतुलन बना रहता है। पारंपरिक ग्रामीण समाजों में पर्यावरण का संरक्षण करने के लिए कई सामाजिक संस्थाएं स्वतः विकसित हुई थीं। उदाहरण के लिए, संयुक्त परिवार प्रणाली, जजमानी व्यवस्था और ग्रामीण पंचायतें केवल सामाजिक नियंत्रण के साधन नहीं थे बल्कि वे वनों, चरागाहों और जल निकायों जैसे साझा संसाधनों के प्रबंधन और न्यायसंगत वितरण के नियम भी तय करते थे। प्रकार्यवाद यह दिखाता है कि जबतक समुदाय में एकजुटता और नियमों के प्रति सम्मान होता है तबतक पर्यावरण का अनियंत्रित दोहन नहीं होता है। परंतु, जैसे ही आधुनिकीकरण और बाजारवादी ताकतों के कारण इन पारंपरिक सामाजिक संस्थाओं का पतन हुआ, वैसे ही समाज का पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ गया। प्रकार्यवादी दृष्टिकोण से, सतत विकास को बहाल करने के लिए ग्रामीण सामुदायिक संस्थाओं को पुनर्जीवित करना और उन्हें आधुनिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना अनिवार्य है।

2.सामाजिक संघर्ष सिद्धांत और पर्यावरणीय अन्याय

कार्ल मार्क्स और उनके परवर्ती विचारकों द्वारा प्रतिपादित 'सामाजिक संघर्ष सिद्धांत' समाज में मौजूद असमानता, शोषण और वर्ग संघर्ष को केंद्र में रखता है। कृषि और पर्यावरण के संदर्भ में यह सिद्धांत एक अत्यंत कड़वी सच्चाई को उजागर करता है: प्राकृतिक संसाधनों का स्वामित्व और उन पर नियंत्रण कभी भी समान नहीं होता है। संघर्ष सिद्धांत के अनुसार, पूंजीवादी विकास मॉडल और वैश्वीकरण ने कृषि को एक जीवन जीने के तरीके से बदलकर एक क्रूर व्यावसायिक उद्योग में बदल दिया है। परिणामस्वरूप 'पर्यावरणीय अन्याय' और 'पारिस्थितिक वर्गवाद' का जन्म होता है। इस व्यवस्था में पर्यावरण के विनाश का खामियाजा समाज के हाशिए पर स्थित लघु व सीमांत किसान, दलित, आदिवासी और भूमिहीन कृषि मजदूर को भुगतना पड़ता है जबकि इसका वित्तीय लाभ केवल संभ्रांत शहरी वर्ग को होता है। अतः, संघर्ष सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि जबतक समाज में संसाधनों के मालिकाना हक और शक्ति संबंधों में बुनियादी बदलाव नहीं किए जाते, तबतक पर्यावरणीय स्थिरता की बात करना केवल एक छलावा है।

3.पारिस्थितिक नारीवाद और ग्रामीण श्रम

पारिस्थितिक नारीवाद[2] का दृष्टिकोण पर्यावरण के क्षरण और महिलाओं के दमन के बीच के सीधे संबंधों को उजागर करता है। फ्रांसुआ द'ऑबोन द्वारा प्रतिपादित और वंदना शिवा, कैरोलिन मर्चेंट तथा बीना अग्रवाल जैसी प्रख्यात विचारकों द्वारा समृद्ध की गई यह विचारधारा मानती है कि पितृसत्तात्मक और पूंजीवादी व्यवस्था दोनों ही प्रकृति और महिला को केवल उपभोग की वस्तु मानती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाएं प्रकृति के सबसे करीब होती हैं। जब वनों का विनाश होता है या भूजल स्तर अत्यधिक गिर जाता है तो इसका सबसे पहला और सीधा शारीरिक व मानसिक कष्ट ग्रामीण महिलाओं को उठाना पड़ता है। उन्हें पानी और लकड़ी के लिए कई किलोमीटर पैदल चलना पड़ता है जिससे उनका स्वास्थ्य गिरता है और वे शिक्षा व अन्य विकास के अवसरों से पूरी तरह वंचित हो जाती हैं। इसके बावजूद, पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचनाओं के कारण उन्हें न तो कृषि निर्णयों में कोई आवाज मिलती है और न ही भूमि पर कोई कानूनी हक। पारिस्थितिक नारीवाद का निष्कर्ष है कि टिकाऊ कृषि और पर्यावरण संरक्षण का कोई भी वैश्विक मॉडल तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि महिलाओं को निर्णय लेने की प्रक्रिया के केंद्र में स्थापित नहीं किया जाता है।

सतत ग्रामीण विकास, सामाजिक पूंजी और पारंपरिक ज्ञान-

आधुनिक अर्थशास्त्र जहां केवल भौतिक पूंजी और मानव पूंजी पर ध्यान केंद्रित करता है, वहीं समाजशास्त्र 'सामाजिक पूंजी' को सतत विकास का सबसे शक्तिशाली कारक मानता है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री पियरे बोर्दियू और

अमेरिकी समाजशास्त्री रॉबर्ट पुटनम[3] के अनुसार- सामाजिक पूंजी का तात्पर्य समाज में मौजूद पारस्परिक विश्वास, साझा मानदंड, नेटवर्क और सामूहिक सहयोग की भावना से है। ग्रामीण समाजों में सामाजिक पूंजी दो रूपों में पाई जाती है:

1. **बंधनकारी सामाजिक पूंजी:** गाँव के भीतर एक ही समुदाय या परिवार के लोगों के बीच का गहरा आंतरिक संबंध।
2. **सेतुकारी सामाजिक पूंजी:** विभिन्न समुदायों, गाँवों और बाहरी संस्थाओं, जैसे- गैर-सरकारी संगठनों या सरकारी विभागों के बीच का नेटवर्क।

रॉबर्ट पुटनम का यह सिद्धांत ग्रामीण विकास में पूरी तरह सटीक बैठता है कि जिन ग्रामीण समाजों में सामाजिक पूंजी का स्तर ऊंचा होता है वहाँ सामूहिक चेतना बहुत मजबूत होती है। ऐसे समाजों में सरकारी अनुदान या बाहरी तकनीकी सहायता के बिना भी लोग सामूहिक रूप से जल संचयन, वनीकरण और बंजर भूमि के उद्धार के लिए स्वेच्छा से आगे आते हैं। इसके विपरीत, जहाँ सामाजिक पूंजी बिखरी हुई होती है और व्यक्तिवाद या गुटबाजी हावी होती है, वहाँ पर्यावरण का तेजी से ह्रास होता है क्योंकि 'साझा संसाधनों की त्रासदी' का नियम वहाँ लागू हो जाता है।

पारंपरिक ज्ञान प्रणाली एवं आधुनिक विज्ञान-

ग्रामीण और आदिवासी समुदायों ने प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व में रहते हुए ज्ञान का एक विशाल भंडार संचित किया है। इसे समाजशास्त्रीय भाषा में 'सांस्कृतिक पूंजी' कहा जाता है। इस पारंपरिक ज्ञान के कई मुख्य बिंदु हैं, जैसे- मौसम के बदलते चक्रों और स्थानीय जैव विविधता की गहरी समझ। बीजों के संरक्षण और उनके प्राकृतिक चयन की स्वदेशी प्रणालियाँ। मिश्रित खेती और फसल चक्र की तकनीकें, जो मिट्टी की उर्वरता को बिना रसायनों के बनाए रखती हैं। पारंपरिक औषधीय पौधों और प्राकृतिक कीटनाशकों का ज्ञान। पश्चिमी आधुनिकता और औपनिवेशिक मानसिकता ने इस ज्ञान को 'अंधविश्वास' या 'पिछड़ापन' कहकर लंबे समय तक मुख्यधारा से बाहर रखा है। परंतु, आज का बहुविषयक अनुसंधान यह स्वीकार कर रहा है कि जलवायु परिवर्तन के इस दौर में जहाँ आधुनिक तकनीकें हांफ रही हैं, यह पारंपरिक ज्ञान ही ग्रामीण समुदायों को लचीलापन और अनुकूलन क्षमता प्रदान कर रहा है। उदाहरण के लिए, भारत के शुष्क क्षेत्रों में पारंपरिक जल संचयन प्रणालियाँ जैसे 'जोहड़', 'बावड़ी' और 'टैंका' आज भी सबसे टिकाऊ समाधान साबित हो रहे हैं।

कृषि, पर्यावरण और सामाजिक असमानता का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

कोई भी समाज पूरी तरह समरूप नहीं होता है। ग्रामीण समाज आंतरिक रूप से लिंग, वर्ग और जाति जैसे कई स्तरों में बंटा होता है। ये सामाजिक असमानताएं पर्यावरण के उपयोग और कृषि की स्थिरता को निर्धारित करती हैं, जैसे -

लिंग आधारित असमानता और कृषि का महिलाकरण

समकालीन वैश्विक परिदृश्य में, विशेष रूप से विकासशील देशों में, एक बड़े परिवर्तन को देखा जा रहा है जिसे समाजशास्त्री 'कृषि का महिलाकरण' कहते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि से होने वाली आय में भारी गिरावट और रोजगार के अभाव के कारण पुरुष सदस्य बड़े पैमाने पर शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप, गाँवों में कृषि के प्रबंधन, बुवाई से लेकर विपणन तक का पूरा वास्तविक बोझ महिलाओं के कंधों पर आ गया है। किन्तु, कृषि भूमि का कानूनी अधिकार के बिना महिलाएं बैंकों से संस्थागत ऋण या सरकारी कृषि योजनाओं का लाभ नहीं उठा पाती हैं। कृषि कार्यों के साथ-साथ घरेलू चारे, पानी और बच्चों की देखभाल की पूरी जिम्मेदारी के कारण महिलाओं के स्वास्थ्य और जीवन स्तर में भारी गिरावट आती हैं।

वर्ग, जातिगत गतिशीलता और पर्यावरणीय जोखिम

दक्षिण एशिया और विशेष रूप से भारतीय ग्रामीण समाज के संदर्भ में, भूमि का स्वामित्व हमेशा से जातिगत पदानुक्रम से तय होता रहा है। एम. एन. श्रीनिवास की 'प्रभु जाति' की अवधारणा यहाँ प्रासंगिक है। ऐतिहासिक रूप से, गाँव की सबसे उपजाऊ भूमि और जल संसाधनों पर उच्च और मध्यवर्ती प्रभु जातियों का नियंत्रण रहा है जबकि दलितों और अति-पिछड़ों को भूमिहीन मजदूर या गाँव के सबसे बंजर कोनों में रहने के लिए मजबूर किया गया है। यह सामाजिक स्तरीकरण पर्यावरणीय जोखिमों के वितरण को भी असमान बनाता है: फलतः धनी और उच्च वर्ग के किसान बड़े नलकूपों के माध्यम से भूजल का अंधाधुंध दोहन करते हैं, जिससे छोटे किसानों के पारंपरिक कुएँ सूख जाते हैं। जब जलवायु परिवर्तन के कारण सूखा पड़ता है या अचानक बाढ़ आती है, तो अमीर किसानों के पास आर्थिक बफर होता है जिससे वे उबर जाते हैं। परंतु, सीमांत और गरीब किसान अपनी फसल नष्ट होते ही स्थानीय साहूकारों के कर्ज के क्रूर जाल में फंस जाते हैं। यह कर्ज का जाल उनके सामाजिक सम्मान को ठेस पहुँचाता है जिससे तंग आकर वे आत्महत्या करने को विवश हो जाते हैं।

तकनीकी अलगाव और प्रकृति का विनाश

मार्क्स के 'अलगाव के सिद्धांत' को यदि हम कृषि पर लागू करें तो पाते हैं कि आधुनिक रासायनिक और यांत्रिक खेती ने किसान को प्रकृति से पूरी तरह अलग कर दिया है। हरित क्रांति ने 'हाई-यील्डिंग वैराइटी' के बीजों को पेश किया जिन्हें जीवित रखने के लिए अत्यधिक मात्रा में रासायनिक उर्वरकों और जहरीले कीटनाशकों की आवश्यकता होती है। इसके अनेक विनाशकारी पर्यावरणीय परिणाम हैं, जैसे- मिट्टी का मृत होना, महान भूजल संकट, स्वास्थ्य का संकट इत्यादि।

बाजार पर पूर्ण निर्भरता और स्वदेशी संस्कृति का ह्रास

वैश्वीकरण और विश्व व्यापार संगठन की नीतियों के तहत ग्रामीण कृषि का पूरी तरह से बाजारीकरण कर दिया गया है। पहले किसान अपने बीजों को खुद संरक्षित करता था और फसलों का आदान-प्रदान करता था जिससे उसमें आत्मनिर्भरता और आपसी सहयोग की भावना थी। आज, स्वदेशी बीजों को पूरी तरह विस्थापित करके बहुराष्ट्रीय कंपनियों के पेटेंटेड और जेनेटिकली मॉडिफाइड बीजों को थोप दिया गया है। ये बीज हर साल नए खरीदने पड़ते हैं और इनके साथ विशिष्ट कंपनियों के ही कीटनाशक काम करते हैं। फलतः किसान अपनी स्वायत्तता खो चुका है और वैश्विक कॉर्पोरेट बाजार का एक लाचार हिस्सा बन गया है। ग्रामीण समाजों में पारंपरिक 'संतोष' और प्रकृति-केंद्रित जीवन शैली की जगह पश्चिमी 'उपभोक्तावाद' और तीव्र व्यक्तिवाद ने ले ली है। इससे सामूहिक त्योहारों और कृषि से जुड़ी सांस्कृतिक रीतियों का पतन हुआ है, जो कभी पर्यावरण संरक्षण की सामूहिक चेतना को जीवित रखती थीं।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य और केस स्टडीज-

सतत ग्रामीण विकास और पर्यावरण संरक्षण के अंतर्संबंधों को केवल सैद्धांतिक रूप से नहीं बल्कि दुनिया के विभिन्न हिस्सों में चल रहे जमीनी आंदोलनों और प्रयोगों के माध्यम से बेहतर समझा जा सकता है।

लैटिन अमेरिका: 'एग्रोइकोलॉजी' और लैंडलेस वर्कर्स मूवमेंट

ब्राजील का 'भूमिहीन श्रमिक आंदोलन' दुनिया के सबसे बड़े सामाजिक आंदोलनों में से एक है। ब्राजील में भूमि का वितरण अत्यधिक असमान था जहाँ अधिकांश उपजाऊ भूमि पर मुट्ठी भर बड़े कॉर्पोरेट घरानों का कब्जा था जो अमेज़न के जंगलों को काटकर सोयाबीन की व्यावसायिक खेती कर रहे थे। 'भूमिहीन श्रमिक आंदोलन' ने न केवल भूमि सुधारों के लिए संघर्ष किया बल्कि उन्होंने कृषि के एक नए मॉडल को अपनाया जिसे 'कृषि-पारिस्थितिकी' कहा जाता है। इसके तहत वे बिना किसी रासायनिक खाद या कीटनाशकों के, स्थानीय बीजों का उपयोग करके मिश्रित जैविक खेती करते हैं। वनों को काटने के बजाय वे कृषि-वानिकी को बढ़ावा देते हैं जहाँ फसलों के साथ-साथ पेड़ों का भी संरक्षण किया जाता है। यह केस स्टडी सिद्ध करती है कि जब भूमि का स्वामित्व गरीब और जागरूक समुदायों के हाथों में सौंप दिया जाता है तो वे न केवल अपनी गरीबी दूर करते हैं बल्कि पर्यावरण का भी दृढ़ता से संरक्षण करते हैं। यहाँ सामाजिक न्याय और पारिस्थितिक स्थिरता एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं।[4]

उप-सहारा अफ्रीका: 'उबंटू' दर्शन और सामुदायिक वनीकरण

उप-सहारा अफ्रीका के कई ग्रामीण क्षेत्र गंभीर सूखे, मरुस्थलीकरण और भुखमरी से जूझ रहे हैं। यहाँ के स्थानीय समुदायों ने आधुनिक पश्चिमी पर्यावरणवाद जो इंसानों को प्रकृति से अलग रखता है को खारिज कर दिया और अपने

पारंपरिक दार्शनिक विचार 'उबंटू' को लागू किया। 'उबंटू' का मूल मंत्र है—**"मैं हूँ क्योंकि हम हैं, और चूंकि हम हैं इसलिए मैं हूँ।"** इस 'हम' के दायरे में केवल जीवित इंसान ही नहीं, बल्कि उनकी आने वाली पीढ़ियाँ, नदियाँ, पेड़ और वन्यजीव भी शामिल हैं। इस दर्शन के तहत कई अफ्रीकी देशों में ग्रामीण महिलाओं ने सामूहिक रूप से करोड़ों पेड़ लगाए। उन्होंने वनों के प्रबंधन का अधिकार सरकारी नौकरशाही से छीनकर ग्राम परिषदों को सौंप दिया। यह वैश्विक परिप्रेक्ष्य दिखाता है कि सांस्कृतिक मूल्यों और दार्शनिक प्रणालियों में पर्यावरण संरक्षण की कितनी अपार शक्ति छिपी हुई है।

दक्षिण एशिया: रालेगण सिद्धि, हिवरे बाजार और प्राकृतिक खेती

भारत के महाराष्ट्र राज्य के अहमदनगर जिले में स्थित 'रालेगण सिद्धि' और 'हिवरे बाजार' पूरी दुनिया के लिए ग्रामीण विकास के आदर्श केस स्टडीज हैं। सत्तर के दशक में ये गाँव भयानक सूखे, अत्यधिक गरीबी, अवैध शराब के धंधों और सामूहिक पलायन से ग्रस्त थे। यहाँ की जमीन पूरी तरह बंजर हो चुकी थी। इन गाँवों में जो बदलाव आया उसकी शुरुआत किसी बड़ी सरकारी योजना या विदेशी फंडिंग से नहीं हुई, बल्कि सामाजिक सुधारों से हुई जिसके मुख्य बिंदु हैं- सामाजिक अनुशासन और सामूहिक नियम, श्रमदान से पारिस्थितिक परिणाम आदि।

नीतिगत कमियाँ और समाजशास्त्रीय समाधान-

वर्तमान योजनाकार अक्सर गाँवों की सामाजिक और सांस्कृतिक वास्तविकताओं से पूरी तरह कटे होते हैं। वे 'टॉप-डाउन' का मॉडल अपनाते हैं, जहाँ नीतियां ऊपर वातानुकूलित कमरों में बनती हैं और उन्हें नीचे ग्रामीणों पर थोप दिया जाता है। सतत विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए इस मॉडल को पूरी तरह बदलकर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण पर आधारित सहभागी ग्रामीण मूल्यांकन और 'बॉटम-अप' मॉडल की रणनीतियों को अपनाना होगा। जैसे- केवल प्रति हेक्टेयर कृषि उपज बढ़ाने और आर्थिक जीडीपी में योगदान पर ध्यान केंद्रित करने के साथ मृदा के स्वास्थ्य, दीर्घकालिक पोषण सुरक्षा और स्वयं किसान के सामाजिक-मानसिक कल्याण व खुशहाली पर भी ध्यान केन्द्रित करना। रासायनिक खादों, भारी मशीनों और जीएम बीजों को प्राथमिकता देने के साथ पारंपरिक स्थानीय ज्ञान प्रणालियों, स्वदेशी बीजों और आधुनिक जैविक विज्ञान का एक न्यायसंगत समन्वय स्थापित करना। कृषि ऋण, प्रशिक्षण और भूमि हस्तांतरण की योजनाओं में पुरुष किसानों को लक्षित करने के साथ कृषि क्षेत्र में महिलाओं को कानूनी रूप से 'किसान' का दर्जा देना, संयुक्त भूमि स्वामित्व अधिकार प्रदान करना और महिला-अनुकूल कृषि उपकरणों का विकास करना।[5]

निष्कर्ष-

प्रस्तुत शोधपत्र का निष्कर्ष यह है कि पर्यावरण की रक्षा करना और कृषि को एक बार फिर से आत्मनिर्भर व गौरवशाली पेशा बनाना पूरी तरह से इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपने ग्रामीण समाजों में कितनी जल्दी और कितने

गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार ला पाते हैं। वैश्विक परिप्रेक्ष्य की केस स्टडीज ने यह अकाट्य रूप से सिद्ध कर दिया है कि जब तक हम समाज में व्याप्त ऐतिहासिक और संरचनात्मक असमानताओं नष्ट नहीं करेंगे, तब तक 'सतत विकास' का महान वैश्विक विचार केवल अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों और नीतिगत दस्तावेजों में बंद एक खोखला नारा मात्र बना रहेगा।

यही एकमात्र मार्ग है जो हमारी पृथ्वी और ग्रामीण सभ्यताओं को विनाश से बचाकर एक सुनहरे और टिकाऊ भविष्य की ओर ले जा सकता है।

संदर्भ:

- Singh, Yogendra (2005). Modernization Of Indian Society, Rawat Publication.
- Shiva, Vandana (1988). Staying Alive: Women, Ecology and Development, Zed Books, London.
- Putnam, Robert (2000). Bowling Alone: The Collapse and Revival of American Community, Simon & Schuster, New York.
- Guha, Ramachandra (2000). Environmentalism: A Global History, Longman, New York.
- Agarwal, Bina (1994). A Field of One's Own: Gender and Land Rights in South Asia, Cambridge University Press.